The Academic
International Journal of Multidisciplinary Research

An Online Peer Reviewed / Refereed Journal
Volume 2 | Issue 8 | August 2024
ISSN: 2583-973X (Online)
Website: www.theacademic.in

21 वीं सदी में जाति व्यवस्था: एक समाजशास्त्रीय निरूपण

डॉ0 संजीव कुमार
प्राचार्य
आदर्श महाविद्यालय हरदुआ, नवाबगंज, बरेली उ)0प्र0)

ARTICLE DETAILS

Research Paper

Keywords:

भारतीय समाज, जाति व्यवस्था, जातिवाद

ABSTRACT

जाति व्यवस्था भारतीय समाज और संस्कृति में इस तरह से निहित है कि इसको अलग करना, समाप्त करना और इससे अप्रभावित होना लगभग असंभव ही प्रतीत होता है। यद्यपि यह समयानुसार अपना स्वरूप बदलती रही है परन्तु जाति अस्तित्वहीन अवस्था में कभी नहीं रही। इसके समर्थक, विरोधी, समालोचक सभी किसी न किसी रूप में इसके प्रभाव में आकर अपना रास्ता बदलते देखे गये हैं। राजनीतिक दलों के लिये जाति संजीवनी साबित हो रही है। देश में विकास की राजनीति के अन्दर भी जाति की मानसिकता महसूस की जा सकती है। देश के भीतर बड़ेबड़े आन्दोलन जाति की - छाया में पलते देखे जा चुके हैं। जाति और जातिवाद संभवतः अब संकीर्णता के दायरे में नहीं आते क्योंकि अब इनका विस्तार विस्तृत क्षेत्र एवं शिक्षित वर्ग तक भी हो चुका है और राजनीतिक दल तो पूर्व से ही इससे ग्रसित थे। शिक्षा जगत हो, रोजगार देना हो सभी जगह जाति का प्रभाव रहता है। प्रस्तुत लेख जाति के इसी समाजशास्त्रीय विश्लेषण के सम्बन्ध में हैं।

हाल ही में देश में जातिगत जनगणना का मुद्दा सामाजिक और राजनीतिक रूप से बहस का केन्द्र बिन्दु रहा है। 2011 की जनगणना में भी जाति को शामिल करने की बहस हुई थी। भारत की नवीन पीढ़ी जाति के उस स्वरूप से परिचित नहीं है जो कि 19 वीं और 20वीं सदी के मध्य तक रहा है। आधुनिकीकरण और पाश्चात्यकरण के प्रभाव से जाति के कठोर स्वरूप में विकट परिवर्तन आया है परन्तु 21वीं सदी में जाति अपने किस अस्तित्व में हैं, या फिर क्या यह अपना कोई प्रभाव आधुनिकता और संचारक्रान्ति - के इस युग में दिखा रही है? इसमें एक पक्ष का कहना है कि जाति, जनजाति और धार्मिक आधार पर ऐतिहासिक दोष रेखायें बनी हुई है और आधुनिक भारत में ये और भी बढ़ सकती हैं दूस !रा पक्ष इस बात पर जोर देता है कि जबकि जाति आधुनिक सामाजिक जीवन एक महत्वपूर्ण आयाम बनी हुई है, इसकी उपयोगिता ज्यादातर विवाह के लिए साथी चुनने तक ही सीमित है और भौतिक असमानताओं को आकार देने में इसका बहुत कम महत्व है, (देसाई, सोनलदे और दुबे अमरेश, 21 वीं सदी के भारत में जातिप्रतिस्पर्धा आख्यान :, इकॉनोमिक एन पॉलिटीकल वीकली, 2012 मार्च 12, 46(11): 40-49)!

स्थिति पदानुक्रम के रूप में जाति व्यवस्था:

जाति ने समाजशास्त्रीय कल्पना को उत्तेजित करने का कार्य इसलिये किया है क्योंकि यह धार्मिक और वैचारिक आधार पर शुद्ध स्थिति के प्रतिनिधित्व के रूप में कार्य करती है वेवर)1958: डयूमा 1980: मिलनर 1994) जिसमें वर्ग विभेदीकरण असमानतायें जाति के लिए असाधारण हैं, भौतिक संसाधनों पर आधारित सामाजिक असमानताओं के अन्य रूपों से अलग, पवित्र एवं प्रदूषित के बीच यह विच्छेद जाति व्यवस्था को समाज शास्त्रीय चरित्र प्रदान करता है। वेवर भारतीय समाज के आँकड़ों के लिए औपनिवेशिक नौकरशाहों)I.C.Sद्वारा लिखित लेखों पर काफी हद तक निर्भर थे (और20 वीं सदी के भारतीय एवं पश्चिमी विद्वानों के मानवशास्त्रीय गाँवों के अध्ययनों ने लुइस डूयमा को आधार प्रदान किया। जाति पदानुक्रम के स्थिति सिद्धान्तों ने वैदिक परम्पराओं और कालातीत भारत पर तो ध्यान केन्द्रित किया परन्तु आधुनिक भारत विशेष रूप से शहरी भारत को इसमें अनदेखा किया गया जिसमें शुद्धता और प्रदूषण

जैसी धारणाओं को दैनिक जीवन में लागू करना मुश्किल हो। आन्द्रे बैतेइ ने डयूमॉ के साथ एक तीखे आदानप्रदान में टिप्पणी की-, ''आधुनिक भारत के साथ डयूमॉ की सहजता की कमी उनके कार्य में स्पष्ट रूप से दिखाई देती है डयूमाँ के निर्माण में आधुनिक भारत, पूरी तरह से कपड़े से बना नहीं है, यह टुकड़ों और पेंच की एक चीज है''

भारतीय समाज और राजनीति में इधर कुछ दिनों से एक नयी चेतना बन रही है कि सरकार और राजनीतिक दल अपने स्वार्थ में जातिविहीन समाज को संकल्पना को न सिर्फ कुचल रहे हैं बल्कि वो ऐसे उपाय कर रहे हैं जिससे जाति वापस आ रही है समाजविज्ञानियों का बड़ा समूह यह स्वीकार कर रहा है कि जाति के पारम्परिक ढ़ॉचे की प्रासंगिकता लगातार घटती जा रही है। लेकिन ये समूह जाति के राजनीतिक रूप से अधिक सुदृढ़ होने को स्वीकारता है।

जाति का मुद्दा केवल हिन्दू समाज तक ही सीमित नहीं है, दलित, इसाई आन्दोलन, सिक्खों में मजहबी सिक्खों का आन्दोलन, इस्लाम में पसमांदा समाज का आन्दोलन, और बौद्धौ में नवबौद्धों की समस्यायें-, जाति की धर्म निरपेक्ष वास्तविकता को पहचानने का सवाल उठा रही हैं।

जाति का मुद्दा सरकारों के लिए भी किसी भी स्थिति में नजर अंदाज करने लायक नहीं है इसीलिए लगभग 90 वर्ष बाद भी सरकार के समक्ष विभिन्न जातियों की स्थिति समझने के लिए जातीय जनगणना कराने हेतु माँग उठती रहती है। 1931 में प्रथम बार जातिगत आँकड़े एकत्रित किये गये थे। जाति की वास्तविकता को समझने के लिए हमें इसके अलगअलग स्वरूपों और सन्दर्भो को जोड़ना होगा-, अन्यथा जाति खत्म हो रही या बढ़ रही है इसका गैर जरूरी सच ही हम जान पायेगें। शुरू से ही जाति का सामुदायिक स्वरूप भिन्न रहा है। गॉव में जाति का सम्बन्ध पेशे और (ग्रामीण नगरीय) सामाजिक हैसियत से अधिक है। ग्रामीण समाज में धार्मिक समानता के बाद भी जाति की दो कोटियाँ, जिनके पीछे पवित्रता एवं प्रदषण की भावना होती है, वो हैं आन्तरिक एवं वहिष्कृत कोटियाँ!

नगरीय समाज में जाति व्यवसाय का संकेत तो करती हैं परन्तु नगर के तार्किक एवं आधुनिक मूल्य जाति के लिए हमेशा चुनौतीपूर्ण रहे हैं। इसीलिए यह महज एक

संयोग नहीं था कि भक्ति आन्दोलन के सभी बड़े प्रणेता-या तो यायावर थे या नगरों में गैरखेतिहर पेशों से जुड़े लोग थे।-

विट्रिश शासन के दौरान जाति में हुये परिवर्तनों को हम लोकतांत्रिक भारत में हो रहे बदलावों के सन्दर्भ में अत्यंत उपयोगी मानते हैं, क्योंकि जनगणनाओं के द्वारा जाति का क्षेत्रीय सच उजागर हुआ और यह लगा कि जाति एक स्थिर व्यवस्था है जातिगत जनगणना के प्रत्येक दशक में जातिगत परिभाषा परिवर्तित होती रही है। अनेकों समाजशास्त्रियों को मानना है कि जाति का सत्य औपनिवेशिक भारत में जड़ता की हद तक सामाजिक जीवन के सन्दर्भ में राज्य व्यवस्था द्वारा संरक्षित हुआ है। यह मान्यता अनेकों व्यक्तियों। सुधारकों को इस सोच से भिन्न हैं कि ब्रिट्रिश राज में जाति का ढाँचा कमजोर हुआ, क्योंकि इस काल में आधुनिक शिक्षा, जातिविरोधी आन्दोलनों को प्रश्रय - और जाति सम्बन्धी कई निषर्धो को अवैधानिक ठहराने का कार्य किया गया। वर्तमान में जातिि की व्याख्या करते समय प्रायः चुनाव के समय हो रही जाति सम्बन्धी घेराबन्दी और विभिन्न दलों के बीच अनेकों जातियों के भीतर अपना वोट बैंक बनाने की दौड़ सबसे अधिक चर्चा के विषय बनते हैं। परन्तु हमें यह याद रखना चाहिए कि यह जाति- व्यवस्था में बुनियादी परिवर्तन केकारण सम्भव हुआ है। वर्तमान का जातिसमूह और - उससे जुड़ी हुई राजनीतिक व्यूह रचना जाति के आधुनिकीकरण का परिणाम है।

जाति व्यवस्था आधुनिकता के दो अलगअलग दौर से गुजरी हैं और दोनों दौर के - अलग रहे हैं। पहला दौर प्रतिक्रियावादी था-परिणाम भी अलग, इसमें शास्त्रीय आधार पर जातियों की परिभाषा गठने और इसे वर्ण व्यवस्था के आसपास हजारों जातियों को - जोड़कर रखने की कोशिश की गई। उनके अधिकारों और कर्तव्यों की पहचान बनाई गई। इसका परिणाम यह हुआ कि जाति के विघटन की क्षमता सीमित हो गई।

दूसरा दौर स्वाधीनोत्तर समय का है जिसमें जाति को संवैधानिक दौर पर अस्वीकार्य बताया है जिसमें संविधान सभा ने 3 वर्ष की लम्बी अवधि की वहस के बाद भारत के भविष्य को जाति विहीन करने का संकल्प लिया गया। इसी के आधार पर जाति के नाम पर होने वाले भेदभाव एवं अत्याचार को न केवल अवैध करार दिया बल्कि वंचितशोषित वर्/ग के लिए आरक्षण जैसा क्रान्तिकारी कदम भी उठाया गया।

यद्यपि आरक्षण-व्यवस्था बाद के वर्षो में विवादास्पद मुद्दा रहा है। न सिर्फ गैर-आरक्षित वाली जातियों बलिक आरक्षित जाति समूहों में भी इसको लेकर अन्तर्विरोध रहा है पितृसत्तात्मक व्यवस्था के कारण स्त्रियों द्वारा आरक्षण का लाभ पुरूषों को अधिक मिलने के आरोप लगते हैं। इसी सन्दर्भ में दलित और महादलित का ध्रुवीकरण पूरे देश में हो चुका है फिर अन्य पिछड़ा वर्ग आरक्षण के सामाजिक परिवर्तन के प्रयोगों के परिणाम स्वरूप अनेक समूह अपनी राजनीतिक, शैक्षिक स्थिति सुधारनें और सरकारी नौकरियों में अपनी उपस्थिति बढ़ाने में सफल हुये हैं। धर्मो के दायरे में पल रही जाति-व्यवस्था पर प्रहार के लिए आज आज आरक्षण नीति के प्रयोग का आग्रह बढ़ा है इसका नेतृत्व दलित ईसाइ आन्दोलनों से हुआ और अब हिन्दुओ और मुसलमानों में भी कई समूह या तो खुद को अन्य पिछड़ा वर्ग में शामिल कराने का आन्दोलन चला या आरक्षण के अन्दर उपआरक्षण की माँग कर रहे हैं।-

हम सभी महामंथन के उस दौर में हैं, जहाँ सामाजिकसंचारनात्मक विषमताओं-, सामुदायिक अन्तरों, द्विजों और गैर द्विजों के बीच फासले को गहराई तक देखने के लिए आत्मविश्वास पैदा कर चुके हैं, इसी के समानान्तर इसकी भी आवश्यकता है कि हम यह देखें कि जाति विरोधी पक्षों की क्या दशा है-? प्रारम्भ में यह दक्षिण भारत में ब्राह्मण विरोधी मोर्च और पश्चिम भारत में गैर ब्राह्मण मोर्चे के रूप में उभरा था जिसमें जाति व्यवस्था को ब्राह्मण के प्रभुतव से बाहर निकालना लक्ष्य था। लेकिन अब ऐसी स्थिति नहीं है क्योंकि मध्यम जातियों में जाति सम्बन्धी नकारात्मकता नहीं दिखाई देती है इसी का परिणाम यह हुआ है कि उत्तर प्रदेश में दलितों को ब्राह्मणों के साथ मिलकर खुला मोर्चा सर्वजन समाज की राजनीति को स्वीकार करना पड़ा ताकि अपने हितों की रक्षा हो सके और राजनीतिक शक्ति बढ़ सके। क्या कारण है कि जातिविरोधी - आन्दोलनों के मूल वाहक दलित और मध्य जातियाँ पारस्परिक रूप से सहयोगात्मक स्थिति में नहीं हैं। जाति व्यवस्था में पीड़ित स्त्री वर्ग भी महिला आरक्षण आन्दोलनों की अगुआई तो कर रहा है परन्तु उन्हें मण्डलवादी शक्तियों से सीधा मुकाबला करना पड़ रहा है।

जातियों के किलों को ध्वस्त करने वाली शक्तियों का लाभ आरक्षण में आरक्षण बन गया है। परिणामस्वरूप जाति को नया आधार मिलता दिखाई दे रहा है। उच्चतम

न्यायालय के हाल ही में दिये गये एक निर्णय में बैंच के एक माननीय न्यायाधीश पंकज मित्तल ने कहा कि "आरक्षण नीति गुब्बारे के जैसी हो गई है। आरक्षण लागू करने से जातिवाद फिर से पनपने लगा है पर उत्थान के तरीकों में से एक अवश्य है पर इसे लागू करने के जातिवाद पनपता है" यदि जातीय पहचान घुलीमिली रहेगी तो आरक्षण के - अन्दर आरक्षण का दावा पूर्ण नहीं हो पायेगा। परिणामस्वरूप जाति से पीड़ित लोग अनेकों कारणों से जातीय पहचान को नवीन आकार देने की संवैधानिक व्यवस्था के लाभ के विवशता महससूस कर रहे हैं।

वैश्वीकरण, आधुनिक शिक्षा, सूचना क्रांति और ग्रामीण क्षेत्रों से तीव्र पयालन जाति सम्बन्धी पूर्व सभी धारणाओं पर पुनः विचार करने के लिए विवश कर रहे हैं 21 वीं सदी में जाति के सभी प्रश्नों के उत्तर खोजने पड़ेगें, क्योंकि जाति का पुराना मॉडल अब न तो चल सकता है और न ही सब उसे स्वीकार करेगें। इधर जातिविहीन समाज का नारा लगाने वाले भी अपने पुराने आदर्श से भटक गये हैं उनके लिये भी जातिविहीन समाज अब आकर्षक पीड़ित एवं शोषित वर्ग स्त्री), दलित, अतिपिछड़े, अल्पसंख्यक का पिछड़ा वर्ग, आदिवासीस्वतंत्र होकर लोकतंत्र की व्यवस्था में निहित न्याय का ला (भ ले सकें और पूरा समाज लगभग समान अधिकारों वाली दुनिया की रचना के ऐतिहासिक संकल्पना के साथ ईमानदारी से अपना सम्बन्ध बनाये रख सकें ।

सन्दर्भ सूची

1. Barber, Berard, (1968) Social Mobility in Hindu India, in James Silvesbery, (ed) Social Mobility in the Caste system in India, Mouten. The Hague, 1968.
2. Blau, Leter m.and suncan, Dtes Dudley, (1967), The American Decupational structure, wiley, New York.
3. Col, Stephen (1975), The sociological Orientation : An Introduction to sociology, Rand McNally College Publishing Company, Chicago.
4. Damle, Y.B. (1968) "Reference group Theory and mobility in the caste system" in James Silvernberg (ed). Social mobility in the caste system in India. Mouter, The Hague 1968.

5. Giddens Anthony (1998) sociology. polity press, Cambridge.

6. Habib, Irfan, (1968). The Agrariam system in Mughal India, Asia Publishing House Bombay.

7. मिश्रा, दिनेश) 2024 2, अगस्त (नवभारत टाइम्स.कॉम

8. Silverberg, James (1968) (ed) Social Mobility in the Caste System in India, Mouter The Haque.

9. सिंह, जे.पी) .2016), ‘‘आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन’’ 21 वीं सदी में भारत, प्रिटिंग हाल इंडिया, दिल्ली।

10. Singh, Yogendra (1997), Social Stratification and Change in India, Manohar Publiches and Distributers, New Delhi.